

कांग्रेस पार्टी की अधोगति: बिहार के विशेष संदर्भ में (1967&2020)

शशि भूषण कुमार

l kj&'k% भारत की आजादी के उपरांत शासन व्यवस्था के जिस प्रतिमान की आधारशिला रखी गई उस आधारशिला को मजबूत बनाए रखने के कारक शनैः शनैः अप्रासंगिक तो नहीं, लेकिन कमजोर होते चले गए। अपेक्षित एवं समय पर सुधारात्मक उपाय नहीं खोजे जाने के कारण समूची व्यवस्था पतनोन्मुख होती चली गई। साठ-सत्तर के दशक से राजनीतिक संस्थाओं का निरंतर ह्रास या पतन स्पष्टतः दृष्टिगोचर होने लगा था, लेकिन इसके कारण सभी विद्वत्जन अलग-अलग कारणों में खोजते हैं। कुछ के अनुसार नेतृत्व की भूमिका इसके लिए उत्तरदायी है तो कुछ के अनुसार सामाजिक संरचना व परंपरा तथा राजनीतिक संस्थाओं में परस्पर अनुकूलता का अभाव इस ह्रास अथवा पतन का कारण है, जबकि कुछ के अनुसार भारत की सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियाँ व समस्याएँ इन संस्थाओं के सफल व्यवहार या कार्यान्वयन के मार्ग में बाधा बनीं। परंतु सभी विद्वत्जनों का निष्कर्ष है कि राजनीतिक संस्थाओं की कार्यकुशलता, क्षमता और भूमिका में निरंतर गिरावट आई है। राजनीतिक दल राजनीतिक संस्थाओं के महत्वपूर्ण घटक हैं जिसके ऊपर लोकतांत्रिक व्यवस्था के सफल संचालन की महत्वपूर्ण जिम्मेदारी है। दुर्भाग्यवश, आज राजनीतिक दल भी अधोगामी स्थिति के शिकार हैं। परिवारवाद, वंशवाद पर आधारित दलीय प्रणाली ने राजनीतिक व्यवस्था के समक्ष चुनौतियाँ खड़ी कर दी है। प्रस्तुत आलेख में भारत के सबसे प्राचीन दल, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की पतनशीलता का विश्लेषण बिहार राज्य के विशेष संदर्भ में करने का प्रयास किया गया है।

प्रस्तावना

प्रायः यह माना जाता है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के समय अंग्रेजों से तीन मजबूत संस्थाएँ औपनिवेशिक विरासत में भारत को मिलीं—कांग्रेस, नौकरशाही और सेना—जिनसे

भारत की राजनीतिक स्थिरता को आधार प्राप्त हुआ। जवाहरलाल नेहरू के समय इन संस्थाओं का कार्यान्वयन भी तनावरहित वातावरण में हुआ और अनेक नई संस्थाओं के विकास से भारत की विविधतायुक्त बहुलता तथा विशालता को एक नीति-निर्माण व निर्णयकारी संघात्मक ढाँचे के अंतर्गत जोड़ने का प्रयत्न किया गया। इस प्रकार एक मिश्रित संस्थात्मक ढाँचा का विकास हुआ। कांग्रेस और नेहरू दोनों इस मिश्रित मॉडल के प्रतीक भी थे और परिणाम भी। अनेक विचारक नेहरू को भी पाश्चात्य संस्थात्मक विरासत का अभिन्न अंग व सबसे उत्कृष्ट नमूना मानते हैं। जब तक ये दोनों संस्थाएँ मजबूत रहीं अन्य संस्थाएँ प्रत्याशित शैली में काम करती रहीं, परंतु उनकी जड़ें मजबूत नहीं हो सकीं¹, परिणामस्वरूप संसदीय व्यवस्था के लगभग 15 वर्षों में भी न तो कांग्रेस सच्चे अर्थों में प्रतिनिधि संस्था बन सकी और न ही उसके विकल्प का विकास हो सका। अतः नेहरू की शक्ति क्षीण होने के साथ-साथ कांग्रेस का संस्थात्मक आधार भी हिलने लगा और भारत की संघीय व्यवस्था का संतुलन भी। परिणामस्वरूप 'नेहरू के बाद कौन?' का प्रश्न एक कसौटी के रूप में बुद्धिजीवियों, राजनीतिज्ञों और विश्लेषकों— सभी को चिंतित करता रहा। यह संस्था-निर्माण अथवा संस्थाओं को आत्मसात करने में हमारी दुर्बलता का ही परिचायक था।

नेहरू के बाद लाल बहादुर शास्त्री और उनके पश्चात इंदिरा गांधी के चयन ने उत्तराधिकार अथवा सत्ता परिवर्तन की समस्या का कुछ हद तक निराकरण तो कर दिया किन्तु कांग्रेस की अंदरूनी कलह, गुटबंदी और अंतर्विरोधों ने उसकी सांगठनिक दुर्बलता को और भी स्पष्ट कर दिया। फलस्वरूप भारत की एक आधारभूत उदार संसदीय संस्था का पतन प्रारंभ हो गया।² यही ह्रास विभाजित विपक्ष, प्रांतीय या क्षेत्रीय दलों के उदय और विस्तार, क्षेत्रीय असंतुलनों और आंदोलनों, अस्थायी प्रांतीय सरकारों, दल-बदल की निरंतर पुनरावृत्ति, नौकरशाही की निष्पक्षता में कमी, बढ़ती हुई आर्थिक समस्या एंव बढ़ते हुए जन-असंतोष व आक्रोश इत्यादि में प्रतिफलित हुआ।

इस युग में भारत की दो मौलिक निर्णय निर्माणकारी प्रक्रियाओं "मतैक्य पर आधारित निर्णय-निर्माण" और "सहमति या सामंजस्य के सिद्धांत" का भी लोप होने लगा जो एक प्रतियोगी दलीय व्यवस्था के अभाव में बहुलवादी व सामाजिक तौर पर विखंडित भारतीय समाज को उदारवादी लोकतांत्रिक बनाए रखने में सक्षम रहीं थीं।³ उसके स्थान पर संघर्ष और भीड़-रंजन की राजनीति का उदय हुआ जो अंत में राजनीतिक उदारवाद व लोकतांत्रिक प्रक्रिया के अल्पकालीन स्थगन (1975-77) का कारण बनी।

लोकतांत्रिक व्यवस्था में राजनीतिक संस्थाओं के एक अंग के रूप में राजनीतिक दल महत्वपूर्ण संरचना है। नागरिकों के संगठित होने अथवा संघ निर्माण के मौलिक अधिकारों के प्राप्त होने के चलते राजनीतिक दल लोकतंत्र का पर्यायवाची हो जाता है। यह एक राजनीतिक यथार्थ है कि बीसवीं सदी के अंतिम दशकों में वैश्विक स्तर पर लोकतंत्र की जो संस्थाएँ सर्वाधिक अपयश और जनता की असंतुष्टि एवं निंदा के

पात्र बने, उनमें राजनीतिक दल प्रमुख थे।⁴ हालाँकि यह एक विश्वव्यापी लोक प्रवृत्ति रही क्योंकि कमोवेश दुनिया के सभी देशों में सरकारों के प्रति जन-विश्वास में ह्रास हुआ है। जापान, उत्तर अमेरिका और यूरोप— सभी देशों की सरकारों के प्रति छिद्रान्वेषण तथा राजनीतिज्ञों के प्रति आस्था शून्य की भावना दृष्टिगोचर होने लगी। भारत में 1967 के बाद राजनीतिक दल/दलों में ह्रास ज्यादा उभर कर सामने आया जिसके परिणाम 1967 से 1989 तक राज्यों में अस्थिर सरकारों अथवा गठबंधन सरकारों के निर्माण से जुड़ी जोड़-तोड़ राजनीति, विधान सभा में “आया राम गया राम” राजनीति, चुनावी संघर्ष में अवैध एवं अनैतिक साधनों के प्रयोग में दृष्टिगोचर हुआ।

1947 से ही नेता वादे करते रहे, आश्वासन देते रहे और राजनीतिक दल नारे लगाते रहे फिर भी सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन की दर अत्यंत धीमी रही। आम भारतीय जनमानस में यह धारणा बन गई कि राजनीतिक दलों के नेता सुविधाभोगी और शोषण करने वाले हैं। इनके नारे आडंबर से भरे लोक-लुभावने हैं तथा इनकी कथनी एवं करनी में अंतर है, जिसके फलस्वरूप वे सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन के वाहक नहीं हो सके। राजनीतिक दलों के भीतर आंतरिक जनतंत्र का अभाव भी इसका एक महत्वपूर्ण कारण है जिसकी ओर विधि आयोग की 170वीं रिपोर्ट ध्यान आकृष्ट करती है:

राजनीतिक दल ही सरकार बनाते हैं, संसद का गठन करते हैं और देश की सरकार चलाते हैं। राजनैतिक दलों की कार्यप्रणाली ने लोकतांत्रिक सिद्धांतों का सम्मान न करने वाले राजनैतिक दल से यह अपेक्षा नहीं की जा सकती कि वह देश का शासन चलाने में उन सिद्धांतों का सम्मान करेगी जो कि संभव भी नहीं। ऐसा नहीं हो सकता कि इसकी भीतरी कार्यप्रणाली में तो तानाशाही हो और बाहर यह लोकतांत्रिक तरीके से काम करें।⁵

जैसा कि हम ऊपर चर्चा कर चुके हैं, राजनीतिक दलों में गिरावट एक विश्वव्यापी प्रवृत्ति के रूप में दृष्टिगोचर हुई है और भारत में यह प्रवृत्ति 1967 के बाद ज्यादा दृष्टिगोचर हुई। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस सहित सभी दल अधोगामी स्थिति के शिकार हैं। चूँकि विवेचना का केन्द्रबिन्दु कांग्रेस पार्टी के क्षरण से संबद्ध है और वह भी भारत के एक राज्य विशेष— बिहार में, इसलिए अन्य दलों की पतनशीलता के कारणों की चर्चा करना यहाँ समीचीन नहीं है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व 19वीं शताब्दी के अंतिम दशकों में भारतीय समाज के सामाजिक-आर्थिक उत्थान हेतु अनेक संगठन कार्यशील थे। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस उन सभी संगठनों में सर्वोपरि थी। 19वीं शताब्दी के प्रारंभ से ही भारत में सामाजिक सुधार, धार्मिक सुधार और जनजागरूकता के लिए आंदोलन प्रारंभ हो गए। 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना ने भारत में राजनीतिक दलों के इतिहास की शुरुआत कर दी। हालाँकि प्रारंभ में उसे भारतीय जनता तथा अंग्रेज प्रशासन के बीच

एक कड़ी के रूप में स्थापित किया गया था किंतु धीरे-धीरे कांग्रेस पार्टी संपूर्ण भारत के प्रतिनिधि के रूप में विकसित हो गई। स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व भारत में दलीय व्यवस्था एक आंदोलन के रूप में थी। कांग्रेस सहित अन्य छोटे-छोटे दलों ने राष्ट्रीय आंदोलनों में भाग लिया और राष्ट्रीय मांगों को प्राथमिकता दी और इस प्रकार कांग्रेस की पहचान एक आंदोलनकारी पार्टी के रूप में स्थापित हुई।

स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरांत अंग्रेजी हुकूमत ने कांग्रेस पार्टी की सर्वस्वीकार्य छवि के कारण शासन-सत्ता की बागडोर कांग्रेस पार्टी को सौंप दिया क्योंकि 1946 में अंतरिम सरकार के गठन में कांग्रेस पार्टी की महत्वपूर्ण भूमिका रही। 1946 से लेकर अब तक कांग्रेस पार्टी के विभिन्न चरणों की एक संक्षिप्त रूपरेखा इस प्रकार प्रस्तुत की जा सकती है:

प्रथम चरण— कांग्रेस 'एक दलीय प्रभुत्व' के रूप में (1946—1967)

द्वितीय चरण— राज्य स्तर पर कांग्रेस का पतन एवं गठबंधन सरकार का काल (1967—1977)

तृतीय चरण— इंदिरा काल में 'गरीबी हटाओं' के नारे के साथ कांग्रेस पार्टी का पुनरुत्थान (1971—1977)

चतुर्थ चरण— केन्द्रीय स्तर पर कांग्रेस पार्टी का पतन एवं जनता पार्टी का उदय (1977—1980)

पंचम चरण— इंदिरा एवं राजीव शासनकाल के तहत कांग्रेस का पुनरुत्थान (1980—1989)

षष्ठ चरण— केन्द्रीय स्तर पर नई बहुदलीय व्यवस्था का विकास एवं कांग्रेस का पतन (1989—1998)

सप्तम चरण— द्वि-ध्रुवीय व्यवस्था (कांग्रेसनीत् यूपीए एवं भाजपानीत् एनडीए) की ओर (1998—2014)

अष्टम चरण— कांग्रेसनीत् यूपीए का पतन (2014—वर्तमान तक)

स्वतंत्रता से पूर्व हुए राष्ट्रवादी आंदोलनों में कांग्रेस पार्टी ने केन्द्रीय भूमिका निभाई तथा स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात स्वयं को राजनीतिक दल के रूप में रूपांतरित किया। इसी आंदोलनकारी छवि ने कांग्रेस को भारत में सबसे लोकप्रिय तथा एकमात्र प्रभुत्व वाला दल बना दिया। यद्यपि कई विरोधी दलों का भी निर्माण हुआ, तथापि कांग्रेस ने अपनी विशिष्ट पृष्ठभूमि के कारण एक बड़े जनसमूह के समर्थन एवं विश्वास को बनाए रखते हुए सबसे प्रमुख दल बनने में सफलता प्राप्त की।⁶

स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरांत भारतीय जनता ने कांग्रेस को हाथों-हाथ लिया। 1951—52 के प्रथम आम चुनावों में कांग्रेस पार्टी को 22 में से 18 प्रांतों में पूर्ण बहुमत मिला तथा लगभग सभी राज्यों में सबसे बड़ा राजनीतिक दल होने के कारण कांग्रेस

की सरकार बनीं। कमोबेश यही स्थिति 1957 तथा 1962 के चुनावों में भी बनी रही। लोगों में कांग्रेस के प्रति इस रुझान के कई कारण थे। प्रथम, कांग्रेस की रणनीति, जैसे 'पार्टी ऑफ कंसेंसस' (Party of consensus)⁷ तथा 'कैच ऑल स्ट्रेटजीज़' (catch all strategies); दूसरा, कांग्रेस की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि तथा स्वतंत्रता संग्राम में उसकी अग्रणी भूमिका; तीसरा, कांग्रेस की संगठनात्मक संरचना तथा लचीलापन; चौथा, उसका करिश्माई नेतृत्व; तथा पांचवां, असंगठित विपक्ष। कांग्रेस ने प्रारंभ से ही सभी को साथ लेकर चलने की नीति अपनाई थी। यही कारण है कि भारत के हर प्रांत में कांग्रेस ने अपनी पहुँच बनाई। इसके अंतर्गत कई विरोधी जातियों, संप्रदायों, नेतृत्व (राष्ट्रीय, क्षेत्रीय, ग्रामीण, नगरीय), मुख्यमंत्री पक्ष एवं विक्षुब्ध नेताओं के गुटों (फैक्शन्स) का समागम था किन्तु कांग्रेस पार्टी इन अनौपचारिक विरोधों को आत्मसात कर इसमें सहमति पैदा कर इस दल को सुदृढ़ता और स्थायित्व प्रदान करती थी। इस प्रकार कांग्रेस एक ऐसी छतरी (umbrella) के समान थी जिसके नीचे सभी समा सकते थे। कांग्रेस का यह चरित्र 1967 के चतुर्थ आम चुनाव के पहले तक बरकरार रहा। इसलिए 1967 तक भारतीय राजनीतिक व्यवस्था का स्वरूप डब्ल्यू. एच. मोरिस-जोन्स⁸ ने 'एक दलीय प्रभुत्व व्यवस्था' के रूप में तथा रजनी कोठारी⁹ ने इसे 'कांग्रेस सिस्टम' के रूप में दिखाया है। हालाँकि कांग्रेस की प्रभावशीलता का जो स्तर राष्ट्रीय दलीय व्यवस्था में दर्ज था, वह प्रांतों में नहीं था। फिर भी, 1967 के चतुर्थ आम चुनावों के पूर्व तक कांग्रेस जम्मू और कश्मीर एवं केरल को छोड़कर सभी राज्यों में सरकार बनाने में सफल रही थी।

1967 के राज्य विधान सभाओं के चुनाव में पहली बार 'एक दलीय प्रभुत्व व्यवस्था' अथवा 'कांग्रेस सिस्टम' को धक्का पहुँचा। केन्द्रीय स्तर पर कांग्रेस पार्टी सरकार बनाने में तो सफल रही किन्तु 16 राज्यों में हुए विधान सभा चुनावों में बिहार सहित आठ राज्यों में कांग्रेस पार्टी को पराजय का मुँह देखना पड़ा। कई राज्यों में क्षेत्रीय दल सशक्त होकर उभरे। 20 वर्षों तक कांग्रेस बिना प्रतिरोध के केन्द्र तथा प्रांतों के स्तर पर लगातार बहुमत प्राप्त करती रही। 1967 से पहले इसे मात्र दो बार सरकार बनाने के लिए गठबंधन करना पड़ा तथा मात्र पांच बार राज्यों में मध्यावधि चुनाव कराने पड़े, जिसमें से तीन बार केरल में ही हुए। 1967 में आठ राज्यों में गैर कांग्रेसी सरकार की स्थापना ने एक नए युग का सूत्रपात किया तथा कांग्रेस की पतनशीलता का विश्लेषण शुरू हो गया। इस संदर्भ में एम. पी. सिंह एवं रेखा सक्सेना का कथन है कि "स्वतंत्रता के काल से आरंभ करते हुए देखा जाय तो भारतीय राजनीति में निरंतरता से कहीं ज्यादा गमन के लक्षण परिलक्षित होते हैं"।¹⁰ इनके अनुसार भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रारंभिक वर्चस्व का 'क्रमिक क्षरण' कई विधियों द्वारा कई दिशाओं में हुआ। इस क्रमिक क्षरण या गिरावट की चर्चा तीन स्तरों पर की जा सकती है:

प्रथम गिरावट आंतरिक थी जो कांग्रेस के नेताओं के परस्पर मतभेदों के कारण

उत्पन्न हुई। इसकी परिणति 1969 में कांग्रेस में विभाजन-कांग्रेस (इंदिरा) एवं कांग्रेस (संगठन) के रूप में हुई।

द्वितीय गिरावट, समाज के जातिगत, धार्मिक एवं जनजातीय पदसोपानों को नीचे की ओर से चलायमान करने के फलस्वरूप उत्पन्न हुई। गैरकांग्रेसी राजनीतिक दलों ने जातिगत, धार्मिक एवं जनजातीय पहचानों का लामबंदीकरण (mobilisation) किया जिससे कांग्रेस को समर्थन देने वाले वृहत् सामाजिक आधार में कटौती हुई।

तृतीय गिरावट 'क्षेत्रीयता' तथा 'प्रादेशिकता' की बढ़ती भूमिका के कारण आई। प्रादेशिक पहचानों, असमताओं एवं विविधताओं की अभिव्यक्ति के कारण कांग्रेस के मेल-मिलाप की क्षमता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा तथा कांग्रेस का अखिल भारतीय चरित्र कमजोर हो गया। कांग्रेस में आई क्रमिक गिरावट से उत्पन्न रिक्त स्थान को अन्य अखिल भारतीय दल प्रभावशाली तरीके से भरने में असफल होते गए जिससे राज्यों में क्षेत्रीय दलों का उत्थान होता गया।

इसी संदर्भ में योगेन्द्र यादव के विचार भी उल्लेखनीय हैं। अपने लेख "यूनाइटेड क्लर्स ऑफ कांग्रेस" में उन्होंने तर्क दिया कि पारंपरिक रूप से भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस इंद्रधनुषी मेल का प्रतीक था।¹¹ अर्थात् कांग्रेस विभिन्न सामाजिक ओहदों के मतदाताओं की प्रतिनिधि थी। लेकिन जातीय उत्तेजना में अभिवृद्धि तथा पिछड़ी हुई जातियों के कांग्रेस के प्रति विश्वास में ह्रास के फलस्वरूप जाति पर आधारित दल कांग्रेस के इंद्रधनुष के विभिन्न रंगों के टुकड़ों पर कब्जा करने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि कांग्रेस 'कैच ऑल' से 'कैच नन' दल में परिणत हो गई। अर्थात् कांग्रेस उन बचे-खुचे मतदाताओं का समर्थन प्राप्त कर रही है जिन्हें अन्य विरोधी दल सामाजिक दरारों को सक्रिय करने के बावजूद अपने पक्ष में चलायमान नहीं कर पाए। योगेन्द्र यादव के अनुसार इसका प्रमुख कारण यह है कि कांग्रेस के पास किसी समूह विशेष को रिझाने के लिए उपयुक्त विचारधारा का अभाव है। कांग्रेस में क्रमिक क्षरण के लिए निम्न कारक उत्तरदायी रहे।

स्थानीय स्वशासन के महत्व को नकारना

आजादी के बाद नेहरू युग के दौरान और विशेष रूप से मेहालनोविस की सलाह के अंतर्गत केन्द्रीय सरकार ने केन्द्रीय योजना एवं राष्ट्रीय विकास पर बल दिया। लेकिन भारतीय नेतृत्व ने स्वतंत्रता पूर्व अर्जित राष्ट्र निर्माण के महत्वपूर्ण पक्ष को भुला बैठा जिससे प्राथमिक राजनीतिक अनुभव हासिल कर वो देश के शासन की बागडोर थामने आये थे। राष्ट्रीय स्तर पर एवं राज्यों के स्तर पर कांग्रेस के पास ऐसे समर्पित नेता थे जिनके पास उच्च पदों पर पहुँचने से पूर्व म्युनिसिपलिटी के शासन व राजनीति का अच्छा खासा प्राथमिक अनुभव था। लाला लाजपत राय, जवाहर लाल नेहरू, बल्लभ भाई पटेल, सुभाष चन्द्र बोस, गोविन्द बल्लभ पंत, श्री कृष्ण सिंह, अनुग्रह

नारायण सिंह इत्यादि नेताओं के पास म्युनिसिपल शासन एवं राजनीति का अच्छा खासा अनुभव था। आजादी के बाद इस व्यवहार का चलन बंद हो गया। संविधान लागू होने के लगभग 42 वर्षों के बाद 1992 में 73वां एवं 74वां संविधान संशोधन के द्वारा इसके महत्व को संवैधानिक रूप से स्वीकार किया गया। बाद के कांग्रेसी नेता स्थानीय शासन के प्राथमिक राजनीतिक अनुभव से अछूते रहे जो कांग्रेस के क्षरण का कारण बना।

नेहरू के बाद नेतृत्व संकट

प्रारंभिक तीन आम चुनावों में कांग्रेस को नेहरू का प्रभावशाली नेतृत्व प्राप्त था। नेहरू कांग्रेस के लिए एक प्रभावशाली मत संग्राहक (vote mobilizer) थे। ऐसा नेतृत्व अन्य दलों को प्राप्त नहीं था। लेकिन 1962 में भारत-चीन युद्ध में भारत की पराजय ने नेहरू की छवि को धूमिल कर दिया तथा 1964 में उनके देहावसान के बाद कांग्रेस में नेतृत्व संकट की भरपाई नहीं हो सकी। नेहरू के बाद राष्ट्रीय स्तर पर कांग्रेस किसी ऐसे नेतृत्व को हासिल नहीं कर सका जो नेहरू की तरह प्रभावशाली एवं पार्टी को अनुशासित रख पाता। फलतः कांग्रेस पतनोन्मुख होता चला गया।

स्वामी पूजा की प्रवृत्ति

कांग्रेस को मिल रही लगातार सफलता ने कांग्रेस के प्रारंभिक स्तर के नेताओं तथा कार्यकर्ताओं को इस बात का विश्वास दिला दिया कि जिसे भी कांग्रेस की ओर से प्रत्याशी बना दिया जायेगा, उसका चुनाव जाना लगभग तय है। इससे कांग्रेस में स्वामी पूजा की प्रवृत्ति घर कर गई। नेताओं ने जनता के लिए काम करना छोड़ प्रभावशाली नेताओं की जी-हुजूरी शुरू कर दिया जबकि अन्य क्षेत्रीय दल जनता के बीच रहकर कार्य कर रहे थे।

विपक्ष का विखंडित स्वरूप

प्रथम तीन आम चुनावों में कांग्रेस की सफलता के पीछे विपक्ष का विखंडित स्वरूप भी एक बड़ा कारण था। लेकिन 1967 के आम चुनावों में विपक्ष ने राम मनोहर लोहिया की प्रसिद्ध रणनीति के तहत आपसी टकराव से बचने के लिए यूनाईटेड फ्रंट (United Front) की नीति अपना ली। इससे विपक्ष की संगठित स्थिति पहली बार दृष्टिगोचर हुई जिसने कांग्रेस के अभेद्य किले में संधमारी शुरू कर दी।

क्षेत्रीय नेतृत्व का कमजोर होना

ऐसा माना जा रहा था कि नेहरू के बाद केन्द्रीय नेतृत्व कमजोर होकर विभिन्न राज्यों की कांग्रेस इकाई के बीच संचालक की भूमिका तक सीमित रह जाएगा जबकि क्षेत्रीय नेतृत्व मजबूत होकर सामने आएगा। परंतु नेहरू के बाद शास्त्री, के. कामराज,

एस. के. पाटिल, अतुल्य घोष तथा नीलम संजीव रेड्डी ने राष्ट्रीय स्तर पर 'कॉकस' (caucus)¹² का निर्माण कर लिया था। इसके बाद क्षेत्रीय नेतृत्व पहले से भी अधिक कमजोर हो गया। इंदिरा गांधी का कांग्रेस पर नियंत्रण रखने के प्रयास ने कांग्रेस के अंदर एक संग्राम को जन्म दे दिया था। इन अंतरदलीय संघर्षों (intra-party conflicts) के बीच कांग्रेस अपना पुराना विश्वास खोती चली गई एवं गिरावट की ओर अग्रसर हो गई।

कांग्रेस की अंदरूनी कलह एवं इंदिरा गाँधी की कार्यशैली

कांग्रेस के संग्राम ने लोगों को अन्य दलों के विषय में सोचने पर मजबूर कर दिया। यहाँ तक कि पूँजीपतियों ने भी अपनी रणनीति बदल दी। अधिकांश पूँजीपतियों ने अन्य दलों को आर्थिक मदद देना प्रारंभ कर दिया जिससे विपक्षी दलों की क्षमता में विस्तार हुआ और वे चतुर्थ आम चुनावों में कांग्रेस को चुनौती देने में सफल रहे। कांग्रेस में क्षरण का एक महत्वपूर्ण कारण इंदिरा की कार्यशैली भी रही। इंदिरा के नेतृत्व में कांग्रेस अपने संघीय स्वरूप को खोती जा रही थी तथा अब यह संस्थाकृत कम; केन्द्रीकृत तथा व्यक्तिनिष्ठ अधिक होती जा रही थी। कांग्रेस की छतरी अब कांग्रेस के हाथ में नहीं रही। मुख्य रूप से पिछड़े एवं शोषित वर्गों को ऐसा लगा कि कांग्रेस को अब उनकी चिंता नहीं रही। इन्हीं परिस्थितियों में समाजवादी पार्टी तथा बहुजन समाज पार्टी का उदय हुआ। इसके अलावा स्वतंत्र पार्टी, जनसंघ (जो अब भारतीय जनता पार्टी है) ने तथा फिर जनता दल व उनसे टूटे अन्य दल, कांग्रेस से टूटे दल, वामपंथी दल तथा अन्य क्षेत्रीय दलों ने अपना आधार मजबूत कर लिया।

कांग्रेस में विभाजन

1969 में इंदिरा गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस के तुलनात्मक रूप से अधिक वैयक्तिक एवं केन्द्रीकृत तथा गैर-संस्थानात्मक एवं असहनशील स्वरूप ग्रहण करने से दक्षिणपंथी क्षेत्रीय नेता (syndicates) असंतुष्ट हो गए। फलतः कांग्रेस के अंदर इंदिरा समर्थक 'सरकार में कांग्रेस' एवं 'कांग्रेस-सिंडिकेट' के बीच संघर्ष प्रारंभ हो गया जो कांग्रेस के विभाजन में परिणत हुआ। इस विभाजन ने कांग्रेस को दो भागों- कांग्रेस (इंदिरा) Congress (I) एवं कांग्रेस (संगठित) Congress (O) में बांट दिया।¹³ इस घटना को एम. पी. सिंह 'महान कांग्रेस विभाजन' (great congress split) की संज्ञा देते हैं।¹⁴ इससे राष्ट्रीय स्तर पर कांग्रेस की साख कमजोर हुई तथा इसकी पतनशीलता की रफ्तार तेज हो गई।

इंदिरा की आपात्काल की नीति

इंदिरा की आपात्काल (1975-77) की नीति ने भी कांग्रेस को पतनशील बनाने में अपना योगदान दिया। 1974 के जेपी आंदोलन तथा विपक्ष की बढ़ती ताकत को

रोकने के लिए इंदिरा ने पूरे देश को 21 महीनों तक आपात्काल की पीड़ा झेलने को विवश कर दिया जिसकी परिणति 1977 के लोक सभा चुनाव में कांग्रेस की पराजय एवं जनता पार्टी के रूप में संगठित विपक्ष के उदय के रूप में हुआ। मूल्य वृद्धि, बेकारी तथा भ्रष्टाचार के नारों ने भारत के ग्रामीण और युवा वर्गों को कांग्रेस की गांधी टोपी के इतना विरुद्ध कर दिया कि स्वतंत्रता के 20 वर्षों के बाद ही कांग्रेस का गांधी टोपी पहनकर गांव पहुँचना मुश्किल हो गया।

राष्ट्रीय स्तर पर कांग्रेस की पतनशीलता के जो भी कारक जिम्मेवार थे, कमोवेश वे सभी कारक राज्यों के स्तर पर विशेष रूप से उत्तर भारतीय राज्यों के लिए भी जिम्मेवार रहे। कांग्रेस की 'हृदय स्थली' (Heart land) के रूप में प्रसिद्ध राज्यों—हरियाणा, उत्तर प्रदेश, केन्द्र शासित क्षेत्र दिल्ली एवं बिहार में 1977 के आम चुनाव में कांग्रेस को एक भी सीट हासिल नहीं हुई जबकि राजस्थान व मध्य प्रदेश में मात्र एक सीट पर जीत दर्ज करने में सफल रही।

स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान बिहार की पहचान एक ऐसे सूबे के रूप में थी जिसने अनेक मौकों पर कांग्रेस के राष्ट्रीय स्तर के नेताओं का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया था। भारत में गांधी के सत्याग्रह का पहला प्रयोग बिहार के चंपारण में हुआ था। श्री कृष्ण सिंह, अनुग्रह नारायण सिंह, राजेन्द्र प्रसाद इत्यादि बिहार के स्तर पर ऐसे समर्पित कांग्रेसी कार्यकर्ता थे जिन्होंने कांग्रेस की नीतियों को ईमानदारी से प्रचारित—प्रसारित किया। इसी के प्रतिफलस्वरूप बिहार में 1946 में श्री कृष्ण सिंह के नेतृत्व में कांग्रेसी सरकार का गठन हुआ जो राज्य के शासन एवं प्रशासन को विकास के मार्ग पर अग्रसर करते रहे। जिस प्रकार राष्ट्रीय स्तर पर सुशासन एवं विकास के लिए नेहरू—पटेल को याद किया जाता है, ठीक उसी प्रकार बिहार के स्तर पर श्री कृष्ण सिंह—अनुग्रह नारायण सिंह को सुशासन एवं विकास के लिए श्री कृष्ण सिंह की मृत्यु (1961) तक जाना जाता है। 1946—63 की अवधि में बिहार का चहुँमुखी विकास हुआ। किसी भी मायने में व्यावहारिक तौर पर राष्ट्रीय नेतृत्व एवं राज्यों के नेतृत्व में कोई वरीष्ठता एवं अधीनस्थता की स्थिति नहीं थी। नेहरू 1947 से लेकर दिसंबर 1963 तक प्रत्येक महीने की पहली और 15वीं तारीख को राज्यों के मुख्यमंत्रियों को पत्र लिखते रहे। उसमें वे अपनी सरकार की नीतियों को विस्तार से बताते—समझाते थे एवं मुख्यमंत्रियों से सुझाव—सलाह भी लेते थे।¹⁵ 1950 के दशक में बिहार को 'अच्छे से शासित' राज्य कहलाए जाने का भी गौरव प्राप्त था।¹⁶ कांग्रेस व्यवस्था के अंतर्गत बिहार में कांग्रेस को 1946—63 काल—खण्ड तक सभी जातियों एवं वर्गों का समर्थन मिलता रहा। कुल मिलाकर इस काल में कानून एवं व्यवस्था, औद्योगीकरण, कृषि में विकास, नए संस्थाओं का विकास इत्यादि के कारण बिहार 1961 तक श्री कृष्ण सिंह के नेतृत्व में एवं 1961—63 तक बिनोदा नन्द झा के नेतृत्व में शांतिपूर्वक शासित होता रहा।

एकल पार्टी के रूप में कांग्रेस को बिहार में सत्ता से दूर हुए लगभग तीस वर्ष हो

चुके हैं। अबतक 23 मुख्यमंत्रियों में से 20 मुख्यमंत्रियों को देने वाली कांग्रेस आज कल्पनाशीलता एवं नवाचार से परे बिल्कुल हाशिए पर है। बिहार प्रदेश कांग्रेस कमेटी के पूर्व अध्यक्ष अशोक चौधरी स्वीकार करते हैं कि पिछड़ों एवं मंडल के साथ विलगाव तथा लगातार अगड़ी जातियों के पक्ष में वकालत ने पार्टी को हाशिए पर ले आया।¹⁷ 1967 के बाद पिछड़ी एवं अति पिछड़ी जातियों के बढ़ते महत्व का कांग्रेस द्वारा अनदेखी की गई। 1967-72 के बीच नौ मुख्यमंत्रियों में से सात अगड़ी जातियों से नहीं थे। 1977 में मध्यम जातियों ने सत्ता पर कब्जा जमाया जिसे 1990 में लालू प्रसाद यादव अपने पक्ष में कर सत्तासीन हुए। स्थिति की गंभीरता को समझने में नाकाम कांग्रेस 1990 तक अपने सभी समर्थित जातीय आधार को खो बैठी जिसकी परिणति बिहार में कांग्रेस का सफाया के रूप में हुई।

के. बी. सहाय के मुख्यमंत्रित्व काल (1963-67) में बिहार में कांग्रेस सरकार के विरुद्ध विरोध के स्वर तेज होने लगे। के. बी. सहाय सरकार के विरुद्ध कुविकास, मूल्य वृद्धि, बेरोजगारी एवं भ्रष्टाचार के आरोपों की खुले आम चर्चा होने लगी।

भ्रष्टाचार बिहार की राजनीति में पूर्व आजादी काल में ही शुरू हो गया था। बिहार कांग्रेस के दिग्गज श्री कृष्ण सिंह के ऊपर बेतिया (साठी) जमीन के गलत तरीके से बंदोबस्ती तथा महेश प्रसाद सिंह के संबंधी राम प्रसाद नारायण शाही, तत्कालीन आबकारी आयुक्त को फायदा पहुँचाने के लिए छोटा बिक्री के गलत आदेश पारित करने के आरोप लगे।¹⁸ महात्मा गांधी एवं सरदार पटेल ने श्री कृष्ण सिंह के ऊपर लगे आरोपों की सार्वजनिक रूप से निंदा की थी। आजादी के बाद अनेक कांग्रेसी मंत्रियों एवं मुख्यमंत्रियों के ऊपर भ्रष्टाचार के आरोप लगे। तत्कालीन कांग्रेसी मुख्यमंत्री के. बी. सहाय एवं पांच अन्य मंत्रियों—महेश प्रसाद सिंह, सत्येन्द्र नारायण सिंह, राघवेन्द्र नारायण सिंह, राम लखन सिंह यादव एवं अंबिका शरण सिंह—के विरुद्ध भ्रष्टाचार के आरोपों की जांच के लिए अय्यर आयोग की नियुक्ति 1968 में की गई थी। 1970 में सौंपे अपनी रिपोर्ट में आयोग ने उपरोक्त के ऊपर लगाए गए पक्षवाद एवं जातिवाद के आरोपों को सही पाया।¹⁹ आजादी के उपरांत बिहार में कांग्रेसी मुख्यमंत्रियों एवं मंत्रियों का इस तरह भ्रष्टाचार में लिप्त रहना और इस पर पर्दा डाले रहना आम जनमानस में कांग्रेस की स्वच्छ छवि, विकास का पर्याय एवं कांग्रेस के प्रति निष्ठा की भावना को धोकर रख दिया। इस प्रकार धीरे-धीरे कांग्रेस पार्टी बिहार में भी पतनोन्मुख होती चली गई।

1946 से 1967 तक बिहार में एकल पार्टी वर्चस्व वाली व्यवस्था के अंतर्गत राजनीतिक स्थिरता का एक महत्वपूर्ण कारण यह भी था कि इस काल में एक संकीर्ण अभिजनवादी राजनीतिक व्यवस्था कायम थी जो मुख्य रूप से उच्च जातियों के नेतृत्व एवं कुछ सहयोजित वर्गों—पिछड़ा वर्ग, अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति तथा मुस्लिम नेतृत्व से संघटित थी। उपरोक्त व्यवस्था में अन्य पिछड़ी जातियों की

सामाजिक और राजनीतिक गतिशीलता की कमी थी। 1967 में राम मनोहर लोहिया के 'पिछड़ी जातियों की राजनीतिक एकजुटता' के सिद्धांत ने अन्य पिछड़ी जातियों को सत्ता हासिल करने हेतु एकजुटता के लिए उद्वेलित किया। लोहिया ने विचार दिया कि केवल गठबंधन सरकार ही कांग्रेस पार्टी के आधिपत्य (ब्राह्मणवादी-उच्च जाति) को समाप्त कर सकता है। भारत में जमींदारी व्यवस्था को समाप्त करने वाला प्रथम राज्य बिहार जमींदारी उन्मूलन के बाद भी अपने अर्द्धसामंती चरित्र को खत्म न कर सका। भूमि सुधार से संबंधित भू-हदबंदी कानून, बटाईदारी कानून एवं अन्य संबंधित कानूनों को ठीक तरीके से लागू नहीं किया गया। इससे अन्य पिछड़ी जातियों, अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों में कांग्रेस के प्रति निष्ठा में कमी आई और धीरे-धीरे ये सभी कांग्रेस से विमुख हो सत्ता संघर्ष करने लगे। आजादी के लिए आंदोलन के दौरान बिहार में कांग्रेसी नेताओं के बीच जिस त्याग एवं बलिदान की भावना का विकास हुआ, बाद के कांग्रेसी नेताओं ने इसको बरकरार नहीं रखा। फलतः राज्य बेकारी, गरीबी, कुशासन, अशिक्षा, कृषि की उपेक्षा, भ्रष्टाचार इत्यादि की ओर अग्रसर हो गया एवं बिहार में कांग्रेस के क्षरण का कारण बना।

1967 में हुए विधान सभा के चुनाव ने बिहार में गठबंधन शासन एवं राजनीतिक अस्थिरता के वातावरण को जन्म दिया। महामाया प्रसाद सिन्हा के नेतृत्व में पहली गठबंधन सरकार 5 मार्च 1967 को गठित हुई। यह संयुक्त विधायक दल की सरकार थी जिसमें कांग्रेस को छोड़कर लगभग सभी दल शामिल थे। मुख्यमंत्री के रूप में इन्होंने विद्यार्थियों को 'जिगर के टुकड़े' से संबोधित किया एवं परीक्षा में 'चीट' इस्तेमाल करने की आजादी दे दी। उप मुख्यमंत्री कर्पूरी ठाकुर ने भी मैट्रिक परीक्षा बिना अंग्रेजी पास करने का आदेश जारी कर दिया। राज्य पूरी तरह कुव्यवस्था की ओर अग्रसर हो गया जिसके लिए स्वयं पूर्व कांग्रेसी सरकार की नीतियां जिम्मेवार थी। 1967-72 के बीच बिहार में छः गठबंधन सरकारों का निर्माण हुआ; इसके बाद तीन बार राष्ट्रपति शासन लागू किया गया; तथा तेरह बार सरकार में परिवर्तन हुआ। कोई भी सरकार 300 दिनों से ज्यादा नहीं चल सकी और सबसे कम दिनों तक चलने वाली सरकार मात्र चार दिनों तक चली। अस्थिरता का वातावरण 1972 के विधान सभा चुनाव में कांग्रेस की वापसी के साथ खत्म हुआ।²⁰

1967-72 के काल में बिहार में कांग्रेस पार्टी की भूमिका मुख्य रूप से गैरकांग्रेसी दलों को सत्ता से दूर रखना, गैरकांग्रेसी सरकारों को अस्थिर करना, कांग्रेस के अंदर पिछड़े वर्ग, अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति समूह के नेताओं को सत्ता सौंपना ताकि इन वर्गों के नेताओं को ऐसा लग सके कि कांग्रेस पार्टी ही इनकी हितैषी है, की रही। महामाया प्रसाद सिन्हा के बाद बी. पी. मंडल, भोला पासवान शास्त्री, दारोगा प्रसाद राय इत्यादि पिछड़े वर्ग के नेताओं को मुख्यमंत्री बनाया जाना इसका परिचायक है। लेकिन इसी के साथ इस काल में विधान सभा में 'आया राम गया राम'

राजनीति एवं दल-बदल की समस्या ने कांग्रेस की साख को और भी कमजोर एवं पतनोन्मुख कर दिया। आम जनमानस में यह भावना घर कर गई कि कांग्रेस पार्टी अब सत्तालोलुप हो गई है और जन भावनाओं के साथ इसका कोई सरोकार नहीं है। लेकिन गैरकांग्रेसी दलों द्वारा भी सत्ता का बेजा इस्तेमाल एवं जन भावनाओं की उपेक्षा ने 1972 में पुनः कांग्रेस पार्टी को बिहार में सत्तासीन कर दिया।

1967 के बाद कांग्रेस पार्टी में 'आलाकमान के फरमान' की गुंज सुनाई पड़ने लगी। 1967 में कांग्रेस बिहार में 128 सीटों के साथ सबसे बड़ी पार्टी के रूप में उभरी। लेकिन राज्यपाल द्वारा सरकार बनाने हेतु आमंत्रित किए जाने के बाद भी आलाकमान के निर्देश पर महेश प्रसाद सिन्हा ने सरकार गठन से मना कर दिया। दिसंबर 1970 में दारोगा प्रसाद राय की मुख्यमंत्री के रूप में विधान सभा में पराजय ने यह सिद्ध कर दिया कि बिहार कांग्रेस पार्टी अवसरवादियों की पार्टी है। 1972 में कांग्रेस पार्टी द्वारा पूर्ण बहुमत प्राप्त होने के बाद भी मुख्यमंत्री का चयन कांग्रेस विधायक दल की बैठक में न होकर आलाकमान के द्वारा मनोनीत किए जाने की परम्परा कायम रही। इस गलत प्रथा की शुरुआत तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती गांधी के समय में हुई। कांग्रेस विधायक दल के द्वारा श्रीमती गांधी को नेता के चयन हेतु अधिकृत²¹ किए जाने के बाद केदार पाण्डेय 1972 में कांग्रेस विधायक दल के नेता मनोनीत किए गए। कांग्रेस की अंदरूनी कलह एवं कार्य करने हेतु स्वतंत्र वातावरण नहीं मिलने के कारण आलाकमान के निर्देश पर 2 जुलाई 1973 को उन्हें पदत्याग करना पड़ा। इनके बाद अब्दुल गफूर बिहार के मुख्यमंत्री मनोनीत हुए लेकिन जे.पी. आंदोलन से निबटने में उनकी असफलता एवं तत्कालीन केन्द्रीय मंत्री एल.एन. मिश्रा के जीवन को न बचा पाने के आरोपों के कारण 6 अप्रैल 1975 को इन्हें पदत्याग के लिए मजबूर होना पड़ा। अब्दुल गफूर के बाद जगन्नाथ मिश्रा कांग्रेस विधायक दल के सर्वसम्मत नेता चुने गए (इंदिरा गांधी एवं संजय गांधी के आर्शीवाद से) और जून 1977 तक प्रदेश के मुख्यमंत्री रहे। 1974 में जे.पी. के नेतृत्व में कांग्रेस के भ्रष्ट शासन के विरुद्ध छात्र आंदोलन ने कांग्रेस की नींव को हिला दिया। तत्पश्चात् इंदिरा गांधी द्वारा जून 1975 में आपात्काल की घोषणा एवं आपात्काल के दौरान पुलिस ज्यादाती ने आम जनमानस को कांग्रेस के विरुद्ध कर दिया जिसका प्रतिफल 1977 के लोक सभा चुनावों एवं बिहार विधान सभा के चुनाव में कांग्रेस की पराजय के रूप में सामने आया।

1980 एवं 1985 के बिहार विधान सभा चुनाव में कांग्रेस को स्पष्ट बहुमत मिलने के बावजूद कोई भी मुख्यमंत्री लंबे समय तक पद धारण नहीं कर सका। जनता पार्टी के मुख्यमंत्रियों की कार्यशैली ने भी जनता को नाखुश रखा। जनता पार्टी की आपसी खींचतान एवं अंदरूनी कलह ने मात्र तीन वर्षों में ही नेताओं को चुनाव मैदान में ला खड़ा किया। विपक्ष के आपसी संघर्ष का फायदा पुनः कांग्रेस को मिला। 1980-90 के काल में छः कांग्रेसी मुख्यमंत्री बनाए गए जिनका औसत कार्यकाल दो वर्षों से भी

कम रहा। इस दौरान जगन्नाथ मिश्रा (08.06.1980 से 14.08.1983 एवं 06.12.1989 से 10.03.1990), चंद्रशेखर सिंह (14.08.1983 से 12.03.1985), बिंदेश्वरी दुबे (12.03.1985 से 13.02.1988), भागवत झा आजाद (14.02.1988 से 10.03.1989) एवं सत्येन्द्र नारायण सिंह (11.03.1989 से 06.12.1989) मुख्यमंत्री बने। लेकिन सभी के सभी मुख्यमंत्री आलाकमान के हाथों की कठपुतली बने रहे और येन-केन-प्रकारेण अपनी कुर्सी को बचाने की जुगत में ही अपने कार्यकाल को समाप्त किया। जनता से कांग्रेस की दूरी इतनी बढ़ गई कि जनता और कांग्रेस नदी के दो किनारे बन गये। इंदिरा गांधी के मरणोपरांत (1984) राजीव गांधी भी एक अंतराल पर मुख्यमंत्रियों को बदलने की नीति का अनुसरण करते रहे। इससे कांग्रेस पार्टी का जनाधार उतरोत्तर घटता चला गया। जगन्नाथ मिश्रा (06.12.1989 से 10.03.1990) बिहार में कांग्रेस के अंतिम मुख्यमंत्री रहे। पिछड़ी जातियों का कांग्रेस से मोहभंग तो पहले ही हो चुका था लेकिन सत्येन्द्र नारायण सिंह के कार्यकाल में भागलपुर में 1989 में हुए हिन्दू-मुस्लिम दंगा ने मुसलमानों को भी बिहार कांग्रेस से विमुख कर दिया। इस प्रकार 1990 तक आते-आते कांग्रेस का परंपरागत वोट बैंक कांग्रेस से खिसक कर क्षेत्रीय दलों के पास चला गया जिसको 2020 के विधानसभा चुनाव तक कांग्रेस अपनी ओर आकर्षित करने में कामयाब नहीं हो पाई।

1989 के आम चुनावों में कांग्रेस की पराजय एवं वी. पी. सिंह के नेतृत्व में केन्द्र में जनता दल की सरकार का गठन 1990 के बिहार विधानसभा चुनाव पर भी प्रभावकारी रहा। केन्द्र की तरह बिहार में भी जनता नए विकल्प की तलाश में थी। कांग्रेस द्वारा उत्पन्न की गई राजनीतिक रिक्तता (vacuum) का पूरा फायदा बिहार में भी जनता दल को मिला। 1990 के बिहार विधानसभा चुनाव में जनता दल को मुस्लिम, पिछड़ी जातियों एवं कुछ हद तक अगड़ी जातियों का समर्थन प्राप्त हुआ। कांग्रेस पार्टी को 324 में से 71 सीटों पर विजय प्राप्त हुई जो 1990 तक हुए विधानसभा चुनावों में कांग्रेस का सबसे निम्न प्रदर्शन था। जनता दल के उम्मीदवार लालू प्रसाद यादव मुख्यमंत्री बने और अपने मुस्लिम-यादव समीकरण के कारण जुलाई 1997 तक मुख्यमंत्री रहे। चारा घोटाला में जेल जाने के बाद उनकी पत्नी राबड़ी देवी मार्च 2005 तक मुख्यमंत्री रहीं। 1990 के बाद के विधानसभा चुनावों में कांग्रेस का प्रदर्शन लगातार खराब होता चला गया। 1995 के विधानसभा चुनाव में कांग्रेस को 342 में से 29 सीटें ही मिल पाई। 2000 के विधानसभा चुनाव में कांग्रेस 243 में 23 सीटें हासिल कर सकी। 2005 के फरवरी में हुए विधानसभा चुनाव में कांग्रेस 243 में 10 सीटें तथा नवम्बर 2005 में पुनः हुए चुनाव में नौ सीटें ही जीत पाई। 2010 के विधानसभा चुनाव में इसे सिर्फ चार सीटों से ही संतोष करना पड़ा। यहाँ यह गौरतलब है कि 1995 एवं 2000 के चुनावों में कांग्रेस को हासिल सीटें जनता दल एवं राष्ट्रीय जनता दल से चुनावी तालमेल का परिणाम था। 2010 के चुनाव में कांग्रेस पार्टी का किसी अन्य

दल/दलों के साथ कोई चुनावी तालमेल नहीं था। 1990 के बाद कांग्रेस के परंपरागत वोट बैंक में विखराव एवं क्षेत्रीय दलों की मजबूत स्थिति ने कांग्रेस को विपक्षी दल की हैसियत से भी बाहर कर दिया। जो कांग्रेस पार्टी कभी बिहार में अपने बुते सरकार बनाने में कामयाब होती थी आज वह राष्ट्रीय जनता दल एवं जनता दल(यू) जैसी क्षेत्रीय दलों की वैशाखी बनकर अपनी पहचान को बनाए रखने के लिए संघर्ष कर रही है।

अक्टूबर-नवम्बर 2015 में पॉच चरणों में संपन्न हुए बिहार विधानसभा के चुनाव में कांग्रेस को उम्मीद से ज्यादा सीटें मिली। इस चुनाव में राजद, जद(यू) एवं कांग्रेस मिलकर महागठबंधन के अंतर्गत चुनावीसमर में उतरे, जबकि दूसरी ओर एनडीए के अंतर्गत बीजेपी, एलजेपी, आरएलएसपी एवं हम का गठबंधन था। कांग्रेस पार्टी 41 सीटों पर चुनाव लड़ी जिसमें उसे 27 सीटों पर सफलता हासिल हुई। पिछले दो चुनावों की तुलना में कांग्रेस का प्रदर्शन इस बार बेहतर जरूर है लेकिन यहाँ यह भी गौरतलब है कि कांग्रेस को मिली 27 सीटें उसके अपने जनाधार में बढ़ोतरी का संकेत नहीं है, बल्कि महागठबंधन में शामिल रहने के कारण जद(यू) एवं राजद के वोटों का फायदा कांग्रेस को मिला। इसलिए कुल मिलाकर कांग्रेस 2015 के विधानसभा चुनाव में भी 27 सीटों पर जीत दर्ज करने के बावजूद क्षरण की ओर ही है। हालांकि चुनाव परिणाम ने कांग्रेस के नेताओं एवं कार्यकर्ताओं में आत्मविश्वास का संचार जरूर किया लेकिन इस आत्मविश्वास को बनाए रखने के लिए प्रदेश के स्तर पर कांग्रेस पार्टी को ठोस कार्य योजना के साथ जमीनी स्तर पर जनता एवं कार्यकर्ताओं के साथ संवाद कायम करना होगा।

कोविड-19 महामारी के संक्रमण की वजह से ऐसा लग रहा था कि नवंबर 2020 तक बिहार विधानसभा चुनाव संपन्न नहीं हो पाएगा लेकिन निर्वाचन आयोग के द्वारा अक्टूबर-नवम्बर में तीन चरणों में बिहार विधानसभा चुनाव कराने का निर्णय लिया गया। चुनाव से पूर्व ही कांग्रेस पार्टी में उम्मीदवारों के चयन को लेकर पक्षपात के आरोप लगने लगे जिसके कारण तीन वरीय कांग्रेसी नेताओं को चयन समिति से हटा दिया गया। कांग्रेस पार्टी राजद एवं वाम दलों के साथ गठबंधन कर 70 सीटों पर अपने उम्मीदवार खड़े किए। 10 नवंबर 2020 को आए चुनाव परिणाम के अनुसार कांग्रेस का प्रदर्शन संतोषजनक नहीं रहा। कांग्रेस पार्टी 2015 में मिली सीटों को भी न बचा सकी और पिछले विधानसभा चुनाव की अपेक्षा ज्यादा सीटों पर अपने उम्मीदवार खड़े करने के बावजूद मात्र 19 सीटों पर ही जीत दर्ज करने में कामयाब हो पाई जो कांग्रेस के क्षरण का परिचायक है।

कांग्रेस के राष्ट्रीय महासचिव तारिक अनवर हार का कारण उम्मीदवारों के चयन को मानते हैं और प्रदेश कांग्रेस कमेटी पर इसकी जिम्मेदारी थोपते हैं।²² वहीं दूसरी ओर, अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के पूर्व सचिव शकीलउज्जमा अंसारी सार्वजनिक

रूप से दिल्ली के नेताओं पर कांग्रेस की हार का आरोप लगा रहे हैं। उन्होंने चुनाव परिणाम के मुद्दे पर राष्ट्रीय अध्यक्ष सोनिया गांधी से कांग्रेस के खराब प्रदर्शन के लिए जिम्मेदार प्रभारी महासचिव शक्ति सिंह गोहिल, स्क्रीनिंग कमेटी के चेयरमैन अविनाश पांडेय, सचिव प्रभारी अजय कपूर और वीरेन्द्र सिंह राठौर को दंडित करने की मांग की है।²³ इधर महागठबंधन (राजद, कांग्रेस एवं वामपंथी दल) के सबसे बड़े घटक दल राजद ने भी महागठबंधनकी सरकार न बन पाने का कारण कांग्रेस की चुनावी विफलता को मानते हैं। बिहार विधानसभा चुनाव के साथ-साथ मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, गुजरात, कर्नाटक आदि राज्यों के उप-चुनावों में भी कांग्रेस की स्थिति बदतर ही रही।

पिछले दिनों कांग्रेस के 23 नेताओं ने पार्टी की दुर्दशा पर पत्र लिखकर कांग्रेस की कार्यवाहक अध्यक्ष सोनिया गांधी का ध्यान आकृष्ट किया। उसका जवाब तो उन्हें नहीं मिला, लेकिन उनमें से कुछ नेता अपदस्थ कर दिए गए। बिहार तथा अन्य राज्यों में हार के सवाल को कुछ नेताओं ने फिर उठाया है लेकिन पार्टी नेतृत्व ऐसे गंभीर मुद्दों पर बहस की इजाजत नहीं देता है। कपिल सिब्बल एवं गुलाम नबी आजाद जैसे दिग्गज कांग्रेसी नेताओं के द्वारा कांग्रेस नेतृत्व पर उठाए गए सवाल निश्चित रूप से विचारणीय हैं, क्योंकि कांग्रेस नेतृत्व पर ऐसी ही टिप्पणी 2015 में एम. एल. फोतेदार अपनी पुस्तक *The Chinar Leaves: A Political Memoir* में कर चुके हैं। सोनिया गांधी एवं राहुल गांधी के नेतृत्व-क्षमता पर सवाल खड़े करते हुए उन्होंने लिखा कि राहुल गांधी का नेतृत्व इस देश की जनता को स्वीकार्य नहीं है क्योंकि सोनिया इंदिरा नहीं हैं और राहुल संजय नहीं हैं। कांग्रेस को नए नेतृत्व की तलाश करनी होगी।²⁴ ऐसे मुद्दों पर सार्वजनिक बहस हो या न हो लेकिन चिंता की बात है कि उनपर पार्टी के अंदर भी खुलकर बहस नहीं होती। कांग्रेस की हालत आज एक प्राइवेट लिमिटेड कंपनी-जैसी है जिसका बुरा असर देश की लगभग सभी प्रांतीय पार्टियों पर भी पड़ गया है। कांग्रेस में आज भी एक से एक अनुभवी एवं योग्य नेता हैं। उन्हें मौका मिले तो जड़वत हो चुकी कांग्रेस फिर से गतिशील हो सकती है। बराक ओबामा ने अपने संस्मरण *Promised Land* में राहुल गांधी के नेतृत्व-क्षमता पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि "राहुल गांधी उस छात्र की तरह हैं, जो प्रभावित तो करना चाहता है, लेकिन कौशल का अभाव है"।²⁵ भारत के भूतपूर्व राष्ट्रपति प्रणब मुखर्जी, जो कभी कांग्रेस के वफादार सिपाही रहे थे, ने अपने संस्मरण *The Presidential Years* के चौथे खंड में लिखा है कि 2012 में उनके राष्ट्रपति बनने के बाद कांग्रेस ने दिशा खो दी थी और सोनिया गांधी पार्टी के मामले संभाल नहीं पा रही थीं। 2014 के आम चुनावों में कांग्रेस पार्टी की हार और आपसी कलह-पतन के लिए उन्होंने अंतरिम अध्यक्ष सोनिया गांधी और तत्कालीन प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह को जिम्मेदार ठहराया था।²⁶ कांग्रेस को इससे सबक लेने की जरूरत है अन्यथा वेदप्रताप वैदिक के शब्दों में "कांग्रेस नहीं रही तो लोकतंत्र बिना ब्रेक की कार बन जायेगा"।²⁷

संदर्भ सूची

1. संस्था निर्माण के रूप में नेहरू की व्याख्या के लिए देखें रजनी कोठारी, "द मिनींग ऑफ जवाहरलाल नेहरू", *इकॉनॉमिक एण्ड पॉलिटिकल वीकली*, विशेष अंक, जुलाई 1964; रजनी कोठारी, "इंस्टीट्यूशन बिल्डिंग", *सेमिनार*, 361, सितंबर 1989, पृ. 16.
2. रूडोल्फ एण्ड रूडोल्फ, *इन परस्यूट ऑफ लक्ष्मी*, नई दिल्ली: ओरिएंट ब्लैकस्वान, 1987, पृ. 7, 83-102 एवं 127-172, जेम्स मेनर के द्वारा भी कांग्रेस के अवसंस्थानीकरण का वर्णन उनके आलेख "द डायनॉमिक्स ऑफ पॉलिटिकल इंटीग्रेशन एण्ड डीसइंटिग्रेशन", ए. जे. वाटसन एवं डी. डॉल्टन (संपा.), *द स्टेट्स ऑफ साउथ एशिया: प्राब्लम्स ऑफ नेशनल इंटीग्रेशन*, लंदन: सी. हर्स्ट, 1983, पृ. 89-110 में किया गया है।
3. रजनी कोठारी, "डेमोक्रेसी विदाउट कनसेन्सस", *पॉलिटिक्स एण्ड द पीपुल*, वोल. 2, पृ. 304-305 में उद्धृत।
4. लैरी डायमांड एण्ड रिचार्ड गुंथर (संपा.), *इंट्रोडक्शन, पॉलिटिकल पार्टीज एण्ड डेमोक्रेसी*, बाल्टीमोर: द जॉन्स हॉपकिन्स यूनिवर्सिटी प्रेस, 2001.
5. *विधि आयोग*, 170वीं रिपोर्ट, मई 1999.
6. रजनी कोठारी, "द कांग्रेस सिस्टम इन इंडिया" *एशियन सर्वे*, 4 (12), दिसंबर 1964, पृ. 1161-71; एल. एन. शर्मा एवं कृष्ण मुरारी, *राजनीतिक समाजशास्त्र: 21वीं सदी के बदलते संदर्भ में*, नई दिल्ली: ओरिएंट ब्लैकस्वॉन, 2014, पृ. 142.
7. 'पार्टी ऑफ कंसेंसस' कांग्रेस द्वारा प्रचारित जुमला है जिसका तात्पर्य प्रत्येक क्षेत्र में अति से बचना है। समझौतावादी नीति के तहत सभी को संतुष्ट तथा शांत रखते हुए अपने आप को केन्द्र में स्थापित करना है। देखें, एल. एन. शर्मा एवं कृष्ण मुरारी, *राजनीतिक समाजशास्त्र: 21वीं सदी के बदलते संदर्भ में*, उपरोक्त।
8. 'एक दलीय प्रभुत्व' की व्याख्या सर्वप्रथम भारत के संदर्भ में डब्ल्यू. एच. मोरिस-जोन्स ने 1961 में की थी, फिर रजनी कोठारी तथा अन्य ने भी इसकी व्याख्या अपने ढंग से की।
9. रजनी कोठारी ने स्वातंत्र्योत्तर भारत के दो दशकों की दलीय व्यवस्था को 'कांग्रेस सिस्टम' की संज्ञा दी है जिसके माध्यम से वे भारतीय एक दलीय प्रभुत्व वाली व्यवस्था में एकमात्र कांग्रेस की प्रधानता को दर्शाना चाहते हैं। रजनी कोठारी, "द कांग्रेस सिस्टम इन इंडिया" *एशियन सर्वे*, 4 (12), दिसंबर 1964, पृ. 1161-73 देखें।
10. एम. पी. सिंह एवं रेखा सक्सेना, *इंडिया एट द पोल्स: पार्लियामेंट्री इलेक्शन इन द फेडरल फेज*, नई दिल्ली: ओरिएंट लांगमैन, 2003, पृ. 250-54. देखें, बासुकी नाथ चौधरी एवं युवराज कुमार (संपा.), *भारतीय शासन और राजनीति*, नई दिल्ली: ओरिएंट ब्लैकस्वॉन, 2011, पृ. 354.
11. योगेन्द्र यादव, "यूनाइटेड कलर्स ऑफ कांग्रेस", *इकॉनॉमिक एण्ड पॉलिटिकल वीकली*, वोल. XXXIV एवं XXXV, नं. 34 एवं 35, 1998-99, पृ. 21-27. देखें, बासुकी नाथ चौधरी एवं युवराज कुमार (संपा.), *भारतीय शासन और राजनीति*, नई दिल्ली: ओरिएंट ब्लैकस्वॉन, 2011, पृ. 354-55.
12. नेहरू की मृत्यु के बाद 'कॉकस' कांग्रेस के अंदर एक छोटे से समूह के रूप में

केन्द्रीय नेतृत्व के स्तर पर उभरा जो सर्वोच्च सत्ता को वहन करते हुए कांग्रेस की नीतियां तय करता था।

13. स्टैनली ए. कोचानेक, "मिसेज गांधी'ज पिरामिड: द न्यू कांग्रेस", जोया हसन (संपा.), *पार्टीज एण्ड पार्टी पॉलिटिक्स इन इंडिया (थीम्स इन पॉलिटिक्स)*, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2004, पृ. 76–106.
14. बासुकी नाथ चौधरी एवं युवराज कुमार (संपा.), *वही*, पृ. 354.
15. विवेक शुक्ला, "नेहरू की विरासत देश की विरासत", *प्रभात खबर*, पटना, 27 मई, 2015, पृ. 12.
16. नेहरू के आमंत्रण पर फोर्ड फाउंडेशन, अमेरिका के प्रशासनिक विशेषज्ञ पॉल एच. एपलबी ने उदार भाव से तत्कालीन भारतीय प्रशासन की प्रशंसा की एवं कुछ बिंदुओं पर इसने कहा कि यह दुनिया में सर्वश्रेष्ठ था। तार्किक रूप से एपलबी की इस प्रशंसा को बिहार के प्रशासन के संदर्भ में भी लागू माना जा सकता है जैसा कि उन्होंने 1953 में देखा।
17. *हिन्दुस्तान टाइम्स*, पटना, 17 सितम्बर 2015.
18. एल. एन. शर्मा, *पॉलिटिक्स एण्ड गुड गवर्नेंस, (ए स्टडी ऑफ चीफ मिनिस्टर्स ऑफ बिहार: फ्रॉम एस के सिन्हा टू नीतीश कुमार)*, नई दिल्ली: रीगल पब्लिकेशन्स, 2013, पृ. 12.
19. *अय्यर कमीशन रिपोर्ट*, बिहार सरकार, 5 फरवरी 1970.
20. एल. एन. शर्मा, *वही*, पृ. 4.
21. *इंडियन नेशन*, पटना, 17 मार्च 1972, बिहार कांग्रेस विधायक दल को केन्द्रीय पर्यवेक्षक जी. एल. नंदा ने निर्देशित किया कि अपने नेता के चुनाव के लिए वो श्रीमती गांधी को अधिकृत करे। आदेशानुसार कांग्रेस विधायक दल ने इस उद्देश्य से एक विशेष बैठक आहूत कर श्रीमती गांधी को ऐसा करने हेतु अधिकृत किया। बाद में यह एक पूर्वोदाहरण बन गया एवं 1972–1977 तथा 1980–1984 काल में ऐसे सभी मामलों में इसका अनुसरण किया गया।
22. *दैनिक भास्कर*, पटना, 13 नवंबर 2020, पृ. 2.
23. *दैनिक भास्कर*, पटना, 12 नवंबर 2020, पृ. 5.
24. एम. एल. फोतेदार, *द चीनार लीक्स: अ पॉलिटिकल मेमोअर*, नोएडा(उ.प्र.): हार्पर कॉलिन्स पब्लिशर्स, 2015, पृ. 320.
25. बराक ओबामा, *अ प्रॉमिस्ड लैंड*, न्यूयार्क: क्राउन (रैण्डम हाउस), 2020; देखें, *दैनिक भास्कर*, पटना, 14 नवंबर 2020, पृ. 22.
26. प्रणब मुखर्जी, *द प्रेसिडेंशियल इयर्स*, खंड-4 (अप्रकाशित); देखें, *दैनिक भास्कर*, पटना, 16 दिसंबर 2020, पृ. 13.
27. *दैनिक भास्कर*, पटना, 19 नवंबर 2020, पृ. 8.